

श्रीपरमात्मने नमः

स्मृति

रा अभ्यास

दीकामहित



गीताग्रस, गोग्रपुर

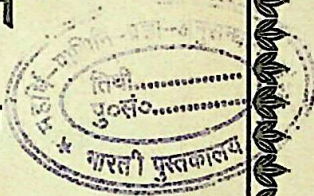
मूल्य बारह पैसे

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

मनुस्मृति

दूसरा अध्याय



भाषाटीकासहित



त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

मोतीलाल जालान

गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८५ से २०२३ तक १,१९,०००

सं० २०२८ उन्नीसवाँ संस्करण १०,०००

सं० २०३२ बीसवाँ संस्करण १०,०००

कुल १,३९,०००

मूल्य बारह पैसे

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

मनुस्मृतिका दूसरा अध्याय भाषा-टीका

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

रागद्वेषरहित धार्मिक पण्डितोंने जिसको सदा सेवन किया और हृदयसे मुख्य जाना, उस धर्मको तुम सुनो ।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

फलकी इच्छा अच्छी नहीं होती; परंतु इससे इच्छामात्रका त्याग नहीं है; क्योंकि वेदका स्वीकार और वैदिक कर्मोंका सम्बन्ध भी इच्छासे ही है ।

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः ।

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

इच्छाकी जड़ संकल्प है, यज्ञ संकल्पोंसे उत्पन्न होते हैं और व्रत, यम और धर्म—ये सब संकल्पसे ही उत्पन्न कहे गये हैं ।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।

यद्यद्वि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

इस संसारमें बिना इच्छा किसी मनुष्यका कोई काम कभी नहीं दीखता । जो कुछ वह करता है सब इच्छासे करता है ।

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।

यथा सङ्कल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥

उन (शास्त्रोक्त) कामोंमें अच्छे प्रकारसे लगा हुआ मनुष्य स्वर्गलोकको पाता है और इस संसारमें भी यथेष्ट सब कामनाओंको भोगता है ।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण वेद, (मनु आदि) वेदके जाननेवालोंकी स्मृति और उनका शील, साधु पुरुषोंका आचार और अपने मनका संतोष— ये धर्मके मूल हैं ।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

जो कुछ जिसका धर्म मनुने कहा है, वही सब वेदमें कहा हुआ है; क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय है ।

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत् वै ॥ ८ ॥

इस सबको ज्ञानरूप नेत्रोंसे भली प्रकार देखकर और वेदके प्रमाणसे कर्तव्य जानकर निश्चयपूर्वक पण्डित अपने धर्ममें स्थित रहे ।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

वेद और स्मृतिमें कहे हुए धर्ममें स्थित हुआ मनुष्य इस संसारमें कीर्ति पाता है और मरकर परम उत्तम सुख पाता है ।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मौ हि निर्वभौ ॥१०॥

वेदको श्रुति और धर्मशास्त्रको स्मृति जानना चाहिये । ये दोनों सब विषयोंमें तर्करहित हैं, क्योंकि इनसे ही धर्म उत्पन्न हुआ है ।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।

स साधुभिर्वहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥११॥

जो द्विज धर्मके उन दोनों मूलोंका तर्कशास्त्रके सहारेसे अपमान करता है वह वेदनिन्दक नास्तिक, साधुजनोंद्वारा (समाजसे) निकाल दिया जाना चाहिये ।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्विधं ग्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१२॥

वेद, स्मृति, सदाचार और (जो विषय विकल्पसे कहा गया है उसमें) अपनी रुचिके अनुसार करना—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण है ।

अर्थकामेष्वसत्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३॥

अर्थ और काममें जो आसक्त नहीं हैं, उनको धर्मज्ञान उपदेश किया जाता है और धर्मको जाननेकी इच्छा करनेवालोंके लिये वेद ही उत्तम प्रमाण है ।

श्रुतिद्वयं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥१४॥

जहाँ दो श्रुतियोंका आपसमें विरोध हो, वहाँ वे दोनों ही धर्म माने गये हैं; क्योंकि बुद्धिमान् पिछले ऋषियोंने उन दोनोंको ही धर्म कहा है ।

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।

सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१५॥

सूर्योदयमें, सूर्य उदय न हो उस समयमें और जब न तारे दीखते हों, न सूर्य निकला हो, तब सर्वथा यज्ञ होता है । यह वेदकी श्रुति है (सारांश यह है कि वेदमें तीन प्रकारका विरोध है, यहाँ तीनों ही मानने चाहिये और जिस समय सुभीता हो उसी समय यज्ञ करे) ।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।

तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥१६॥

जिस (वर्ण) की गर्भसंस्कारसे लेकर मरणतककी विधि वैदिक मन्त्रोंसे कही है उसीका इस शास्त्रमें अधिकार जानना चाहिये औरका नहीं ।

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥१७॥

सरस्वती और दृषद्वती देवनदियोंके मध्यका जो देवताओंका रचा हुआ देश है उसको ब्रह्मावर्त कहते हैं ।

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥१८॥

उस देशमें सब वर्णों और वर्णसंस्कारोंका जो आचार परम्परासे चला आया है वह सदाचार कहलाता है ।

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तदिनन्तरः ॥१९॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल (पंजाब) और शूरसेन (मथुराका प्रान्त भाग)—ये ब्रह्मर्षियोंके निवासयोग्य देश ब्रह्मावर्तके पास हैं ।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥२०॥

इन देशोंमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणसे पृथ्वीपर सब मनुष्य अपना-
अपना आचार सीखें ।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।

प्रत्यगेत्र प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥२१॥

हिमवान् और विन्ध्याचलके मध्य, कुरुक्षेत्रके पूर्व और प्रयागके
पश्चिमका देश मध्यदेश कहा गया है ।

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।

तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं त्रिदुर्बुधाः ॥२२॥

पूर्व समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्रतक और विन्ध्याचल तथा
हिमाचल पर्वतोंके बीचके देशको पण्डित आर्यावर्त कहते हैं ।

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।

स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥२३॥

जहाँ कृष्णसार (अर्थात् काला मृग) स्वभावसे विचरता है,
वह देश यज्ञके योग्य जानना चाहिये । इससे अतिरिक्त अन्य म्लेच्छ
देश है ।

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।

शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्षितः ॥२४॥

द्विजाति इन्हीं देशोंमें यत्नपूर्वक निवास करें, परंतु जोविकासे
दुखी शूद्र तो जिस देशमें चाहे उसमें रहे ।

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।

सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥२५॥

यह धर्मकी जड़ और सब जगत्की उत्पत्ति तुमको संक्षेपसे
कहो; अब वर्णोंके धर्मोंको सुनो !

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥२६॥

द्विजातियोंके इस लोक और परलोकमें पवित्र करनेवाले गर्भाधान
आदि शरीरसंस्कार, वेदोक्त पवित्र मन्त्रोंकी विधिसे किये जाने चाहिये ।

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।

वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥२७॥

गर्भ शुद्ध करनेवाले हवनसे और जातकर्म, मुण्डन और यज्ञोपवीत
इन संस्कारोंसे द्विजातियोंके गर्भ और बीजका दोष मिट जाता है ।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२८॥

स्वाध्याय (नित्य-पाठ) से, व्रतोंसे, हवनोंसे, वेदत्रयोंके
ज्ञानसे, देवपूजनसे, पुत्रोंसे, महायज्ञ और यज्ञोंसे यह शरीर मोक्ष
पानेके योग्य बनाया जा सकता है ।

ग्राह्णाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।

मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥२९॥

पुरुषका जातकर्म नाल काटनेसे पहिले करना कहा है और
इस (बालक) को मन्त्रोंसे सुवर्ण, शहद और घीका प्राशन
कराया जाता है ।

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।

पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥३०॥

बालकका नामकरण जन्मसे दसवें या बारहवें दिन अथवा पुण्य तिथि वा सुहृत्में वा गुणयुक्त नक्षत्रमें करावे ।

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।

वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥३१॥

ब्राह्मणका नाम मङ्गलयुक्त, क्षत्रियका बलयुक्त, वैश्यका धन-युक्त और शूद्रका सेवाकार्यद्योतक होना चाहिये ।

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।

वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेण्यसंयुतम् ॥३२॥

ब्राह्मणका शर्मायुक्त, राजाका रक्षा (वर्मा) युक्त, वैश्यका पुष्टि (गुप्त) युक्त और शूद्रका दासयुक्त नाम रखना चाहिये ।

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।

मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तिमाशीर्वादाभिधानवत् ॥३३॥

स्त्रियोंका नाम सुखसे कहने योग्य, कोमल, जिसका अर्थ स्पष्ट हो, सुन्दर, माङ्गलिक, जिसके अन्तमें दीर्घ वर्ण हो और जो आशीर्वादका वाचक हो ऐसा होना चाहिये ।

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।

पष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥३४॥

चौथे मासमें लड़केको घरसे बाहर निकालना चाहिये । छठे मासमें अन्नप्राशन वा जो मङ्गलकार्य करना हो उसे अपने कुलकी रीतिके अनुसार करना चाहिये ।

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।

प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥३५॥

सब द्विजातियोंका मुण्डन, पहले वा तीसरे वर्षमें वेदकी आज्ञासे धर्मके अनुसार करना चाहिये ।

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥३६॥

ब्राह्मणका जनेऊ गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करे ।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥३७॥

ब्रह्मतेजकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मणका पाँचवें वर्षमें, बल चाहनेवाले क्षत्रियका छठेमें और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये ।

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।

आद्वाविंशात्क्षत्रवन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥३८॥

सोलह वर्षतक ब्राह्मणोंकी, बाईस वर्षतक क्षत्रियकी और चौबीस वर्षतक वैश्यकी सावित्रीका अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्थातक उनका जनेऊ हो सकता है ।

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।

सावित्रीपतिता ब्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥३९॥

यदि उचित समयपर इनका संस्कार न हो तो उस कालके अनन्तर ये तीनों सावित्रीसे पतित, शिष्टजनोंसे निन्दित और ब्रात्यसंज्ञक हो जाते हैं ।

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।

ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥४०॥

ब्राह्मण, इन अपवित्र व्रात्योंके साथ कभी आपत्तिमें भी नियमानुसार पठन-पाठन और विवाह आदि सम्बन्ध न करे ।

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।

वसीरन्नानुपूर्वेण शाणक्षौमाविकानि च ॥४१॥

(ब्राह्मण आदि) ब्रह्मचारियोंको चाहिये कि काला मृग, रुह मृग और बकरा इनके चर्म और सन, रेशम और ऊनके वस्त्र क्रमसे धारण करें ।

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।

क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥४२॥

ब्राह्मणकी मेखला मूँजकी तीन लड़ोंकी और चिकनी हो, क्षत्रियकी मेखला मूर्व नामकी लतासे बनी हुई प्रत्यञ्चा हो और वैश्यकी सनके सूतकी बनाना चाहिये ।

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मान्तकवल्बजैः ।

त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥४३॥

मूँज न मिले तो क्रमसे कुशा, अश्मान्त और बल्बज (वृण) की मेखला बनानी चाहिये और उसे तीन लड़ोंकी एक गाँठ, तीन गाँठ वा पाँच गाँठकी बनावे ।

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृत्तं त्रिवृत् ।

शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥४४॥

ब्राह्मणका जनेऊ कपासके सूतका, ऊपरको बटा हुआ और तीन लड़ोंका, क्षत्रियका सनके सूतका और वैश्यका भेड़के ऊनके सूतका होना चाहिये ।

ब्राह्मणो वैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।

पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥४५॥

ब्राह्मणको बेल या पलाशका, क्षत्रियको बड़ या खैरका, वैश्यको पीलू या गूलरका दण्ड धर्मानुसार धारण करना चाहिये ।

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।

ललाटसम्मितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥४६॥

ब्राह्मणका केशतक, क्षत्रियका मस्तकतक और वैश्यका नासिका-तकके प्रमाणसे दण्ड बनाना चाहिये ।

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणा सौम्यदर्शनाः ।

अनुद्वेगकरा नृणां सत्त्वचोऽनग्निदूषिताः । ४७॥

वे सब दण्ड सीधे, बिना गाँठके देखनेमें सुन्दर, मनुष्योंको चुरे न लगनेवाले और जो अग्निमें जले हुए न हों ऐसे और छालयुक्त होने चाहिये ।

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।

प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्ष्यं यथाविधि ॥४८॥

ब्राह्मण आदि इच्छित दण्डको लेकर सूर्यका उपस्थान करके और अग्निकी परिक्रमा करके विधिपूर्वक भिक्षा माँगे ।

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।

भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥४९॥

यज्ञोपवीत हुआ ब्राह्मण 'भवत्' शब्दको पहले कहकर, क्षत्रिय 'भवत्' शब्दको मध्यमें और वैश्य 'भवत्' शब्दको अन्तमें कहकर भिक्षा माँगे अर्थात् ब्राह्मण कहे, 'भवति भिक्षां देहि', क्षत्रिय कहे 'भिक्षां भवति देहि' और वैश्य कहे 'भिक्षां देहि भवति' ।

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।

भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥५०॥

ब्रह्मचारी पहले मातासे या बहिनसे या सगी मौसीसे अथवा जो उसका अपमान न करे उससे ही भिक्षा माँगे ।

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया ।

निवेद्य गुरवेऽग्नीयादाचम्य ग्राह्मुखः शुचिः ॥५१॥

उस भिक्षाको जितनी चाहिये उतनी लाकर, निष्कपट हो गुरुके समर्पण करे और फिर आचमन करके पवित्र हो पूर्वको मुखकर भोजन करे ।

आयुष्यं ग्राह्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।

श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥५२॥

पूर्वकी ओर मुख करके खाय तो आयु भोगे, दक्षिणकी ओर मुख करके खाय तो यश भोगे, पश्चिमकी ओर मुख करके खाय तो लक्ष्मी पावे और उत्तरकी ओर मुख कर खाय तो सत्यका फल मिले ।

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।

भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यग्द्विजः खानि च संस्पृशेत् ॥५३॥

द्विज नित्य आचमन करके सावधान हो अन्नका भोजन करे और भोजनके अनन्तर अच्छी भाँति आचमन करे और छः छिद्रोंका (अर्थात् नाक, कान, नेत्रका) जलसे स्पर्श करे ।

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।

दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥५४॥

भोजनका नित्य आदर करे और उसकी निन्दा न करता हुआ भोजन करे, उसे देख हर्ष करे और प्रसन्न हो सर्वदा मिलनेके लिये प्रार्थना करे ।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।

अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥५५॥

क्योंकि नित्य आदरपूर्वक किया हुआ भोजन बल और वीर्यको देता है और अनादरसे खाया हुआ वह उन दोनोंका नाश करता है ।

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।

न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः कचिद्व्रजेत् ॥५६॥

किसीको उच्छिष्ट न दे और न खाय, दिन तथा सन्ध्याके भोजनके बीचमें न खाय (इससे तीन बार भोजनका निषेध है) अति भोजन न करे और खाकर जूठे मुँह कहीं न जाय ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥५७॥

अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक और लोकनिन्दित है । इसलिये उसे त्याग दे ।

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।

कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥५८॥

ब्राह्मणको ब्राह्म, प्रजापति वा दैव तीर्थसे नित्य आचमन करना चाहिये, पित्र्य तीर्थसे कभी नहीं ।

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मे तीर्थं प्रचक्षते ।

कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥५९॥

अँगूठेकी जड़के नीचे ब्राह्मतीर्थ, कनिष्ठा अँगुलीके मूलमें प्रजापति तीर्थ, अँगुलियोंके अग्रभागमें दैव तीर्थ और अँगूठे और प्रदेशिनीके बीचमें पित्र्य तीर्थ कहा है ।

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।

खानि चैव स्पृशेदङ्गिरात्मानं शिर एव च ॥६०॥

पहिले जलका तीन बार आचमन करे, फिर मुखको दो बार धोवे और (नाक, कान, नेत्र-इन) छिद्रोंको, हृदयको और शिरको जलसे स्पर्श करे ।

अनुष्णाभिरफेनाभिरङ्गिस्तीर्थेन धर्मवित् ।

शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥६१॥

पवित्रताको चाहनेवाला धर्मात्मा मनुष्य एकान्तमें पूर्व या उत्तर-की ओर मुख करके जो गरम न हो और झागरहित हो ऐसे जलसे (ब्राह्म आदि) तीर्थसे सदा आचमन करे ।

हृद्ग्राभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।

वैश्योऽङ्गिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥६२॥

ब्राह्मण हृदयमें गये हुए, क्षत्रिय कण्ठमें गये हुए, वैश्य मुखमें गये हुए और शूद्र होठोंसे स्पर्श हुए जलसे पवित्र होता है ।

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।

सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥६३॥

जब यज्ञोपवीत वा वस्त्र दाहिने हाथको बाहर निकालकर बायें कंधेपर रक्खा जाय तब द्विज उपवीती (सव्य) कहाता है, जब बायें हाथको बाहर निकालकर दाहिने कंधेपर रक्खा जाय तब प्राचीना-वीती (अपसव्य) कहाता है और जब कण्ठमें पहिना जाय तब निवीती कहाता है ।

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।

अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृहीतान्यानि मन्त्रवत् ॥६४॥

जो मेखला, मृगचर्म, दण्ड, जनेऊ और कमण्डलु कामके न रहे तो उन्हें पानीमें पधराकर मन्त्रसहित दूसरे धारण करे ।

कैशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।

राजन्यवन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥६५॥

कैशान्त कर्म (अर्थात् ठोड़ी वनवाना) ब्राह्मणको सोलहवें, क्षत्रियको बाईसवें और वैश्यको चौबीसवें वर्षमें कहा है ।

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।

संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥६६॥

स्त्रियोंको ये सब कर्म शरीरके संस्कारके लिये उचित समयपर सम्पूर्ण रीतिसे क्रमपूर्वक मन्त्ररहित करने चाहिये ।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥६७॥

स्त्रियोंके लिये विवाहकी विधि वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीत) कहा गया है । पतिकी सेवा ही गुरुकुलमें वास और घरका काम ही अग्निकी सेवा है ।

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।

उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥६८॥

द्विजातियोंके दूसरे जन्मकी जतानेवाली यह यज्ञोपवीतकी पवित्र विधि मैंने कही, अब उसके बादके कृत्योंको सुनो ।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।

आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥६९॥

गुरुको चाहिये कि शिष्यका जनेऊ करके पहले उसे शौच, आचार, अग्निसेवा (हवन) तथा सन्ध्योपासन सिखलावे ।

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ।

ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥७०॥

सीखनेवाला जब शास्त्रकी रीतिसे आचमनकर, उत्तराभिमुख हो, ब्रह्माञ्जलि बाँधकर, कौपीन धारणकर, जितेन्द्रिय हो तब पढ़ाने-के योग्य होता है ।

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।

संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥७१॥

वेद पढ़नेके आरम्भ और अन्तमें सदा गुरुके चरण छुए और हाथ जोड़कर पढ़ना चाहिये । यही ब्रह्माञ्जलि कहाती है ।

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।

सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥७२॥

हाथोंको हेर-फेर करके गुरुके चरण छूने चाहिये । बायें हाथसे बायाँ और दाहिने हाथसे दाहिना चरण छूना चाहिये ।

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।

अधीष्णु भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥७३॥

गुरु नित्यप्रति आलस्यहीन होकर पढ़नेवालेसे 'भो (शिष्य) पढ़' यह कहे और 'विराम हो' ऐसे कहकर पढ़ाना बंद कर दे ।

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।

स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यति ॥७४॥

वेदपाठके आदि और अन्तमें सदा ओङ्कारका उच्चारण करे, क्योंकि पूर्वमें ओंकार न कहनेसे धीरे-धीरे और पीछे न कहनेसे उसी समय पाठ विस्मरण हो जाता है ।

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥७५॥

द्विज पूर्वकी ओर जिनका अग्रभाग हो ऐसे कुशाओंके आसनपर बैठा हुआ (कुशाओंके बने हुए) पवित्रोंसे पवित्र और तीन प्राणायामोंसे पवित्र हो तब ओङ्कारके उच्चारणके योग्य होता है ।

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।

वेदत्रयान्निरदुहर्द्धुवः स्वरितीति च ॥७६॥

ब्रह्माने तीनों वेदोंसे अकार, उकार और मकार और भूः, भुवः, स्वः (इन तीन व्याहृतियों) को क्रमसे निकाला है ।

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदुहत् ।

तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः । ७७॥

परमेष्ठी ब्रह्माने तीनों वेदोंसे ही 'तत्' इस सावित्रीकी ऋचाका एक-एक पाद निकाला है ।

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।

सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ७८॥

इस (ओम्) अक्षर और इस व्याहृतिपूर्वक (सावित्री) को दोनों संध्याओंमें जपता हुआ वेदपाठी ब्राह्मण वेदपाठके पुण्यके फलका भागी होता है ।

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।

महतोऽप्येनसो मासाच्चवेवाहिर्विमुच्यते ॥७९॥

ब्राह्मण इन तीनोंको बाहर (एकान्त स्थानमें) सहस्र बार जपकर एक मासमें बड़े भारी पापसे भी ऐसे छूट जाता है जैसे साँप केंचुलीसे।

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।

ब्रह्मक्षत्रियविद्योनिर्गहणां याति साधुषु ॥८०॥

इस ऋचासे समयपर अपने कर्मोंसे हीन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—ये सज्जनोंमें निन्दित होते हैं।

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्त्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।

त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥८१॥

जिनके पहले ओङ्कार है ऐसे अविनाशिनी (भूः, भुवः, स्वः—इन) तीन व्याहृति और तीन पदवाली सावित्रीको ब्रह्मका मुख जानना चाहिये।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षायतन्द्रितः ।

स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥८२॥

जो आलस्य छोड़कर इसे नित्यप्रति तीन वर्षतक पढ़ता है, वह पवनरूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मके पास जाता है।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।

सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥८३॥

एकाक्षर (ओम्) परब्रह्म है, प्राणायाम ही परम तप है, गायत्रीसे बढ़कर कुछ नहीं है और मौनसे बढ़कर सत्य है।

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजतिक्रियाः ।

अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥८४॥

सम्पूर्ण वेदकी हवन, यज्ञ (आदि) क्रिया नाशवान् है ।
अविनाशी तो केवल 'ओम्' अक्षरको और प्रजापति ब्रह्मको
जानना चाहिये ।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।

उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥८५॥

विधियज्ञ (अमावस्या, पूर्णिमादि) से जपयज्ञ दसगुना बढ़कर
है और उपांशु (अर्थात् भौन) जप विधियज्ञसे सौगुना और
मानसजप हजारगुना बढ़कर कहा गया है ।

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८६॥

जो विधियज्ञसहित चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव, होम, बलिकर्म—
नित्यश्वाद्ध और अतिथिभोजन) हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं
कलाके योग्य भी नहीं हैं ।

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥८७॥

ब्राह्मण जपसे ही सब सिद्धि पाता है, इसमें संदेह नहीं है,
दूसरी कुछ क्रिया करे या न करे, वह ब्रह्ममें लीन और सबका
मित्र कहाता है ।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।

संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥८८॥

पण्डितको चाहिये कि मनको हरनेवाले विषयोंमें विचरनेवाली
इन्द्रियोंके रोकनेमें ऐसा यत्न करे कि जैसा घोड़ोंके रोकनेमें सारथी
करता है ।

(२१)

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।

तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥८९॥

पहिले पण्डितोंने जो ग्यारह इन्द्रियाँ कही हैं, उनको ठीक-ठीक क्रमसे भलीभाँति कहता हूँ ।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।

पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥९०॥

कान, त्वचा, दोनों नेत्र, जीभ, पाँचवीं नाक, गुदा, लिङ्ग, हाथ, पैर और दसवीं बाणी—ये दस इन्द्रियाँ कही गयी हैं ।

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।

कर्मैन्द्रियाणि पञ्चैषां पायवादीनि प्रचक्षते ॥९१॥

इनमें पहली कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पिछली गुदा आदि पाँच कर्मैन्द्रियाँ हैं, ऐसा कहा जाता है ।

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।

यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चक्रौ गणौ ॥९२॥

मनको ग्यारहवीं इन्द्रिय जानना चाहिये; यह अपने गुणसे कर्मैन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनोंका ही आत्मस्वरूप है । इसको जीत लेनेसे उपर्युक्त दसों इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं ।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।

संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥९३॥

मनुष्य इन्द्रियोंके प्रसङ्गसे निःसन्देह दोषको प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयमसे सिद्धि पाता है ।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥९४॥

इच्छा विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती । घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है ।

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।

प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥९५॥

जो इन सब विषयोंको प्राप्त करे और जो इन सबको त्याग दे— इन दोनोंमें सब विषयोंके पानेसे उनका त्याग अधिक अच्छा है ।

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।

विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥९६॥

जैसे ये नित्यप्रति विषयोंमें लगी हुई इन्द्रियाँ ज्ञानसे रोकी जा सकती हैं, वैसे विषयोंको सेवन न करनेसे नहीं ।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।

न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥९७॥

दुष्ट स्वभाववाले मनुष्यके वेद, दान, यज्ञ, नियम और तप—ये कभी भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होते हैं ।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।

न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥९८॥

जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न उदास होता है, उसे जितेन्द्रिय मानना चाहिये ।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।

तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥९९॥

सब इन्द्रियोंसे जो एक भी इन्द्रिय विचलित हो जाती है तो उससे इस मनुष्यकी बुद्धि ऐसे जाती रहती है, जैसे चर्मपात्र (मशक) मेंसे जल निकल जाता है ।

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयज्य च मनस्तथा ।

सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिप्वन् योगतस्तनुम् ॥१००॥

इन्द्रियसमूहको वशमें करके तथा मनको रोककर और योग (उपाय) से शरीरको पीड़ा न देकर मनुष्यको सब अर्थोंका साधन करना चाहिये ।

पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमाऽर्कदर्शनात् ।

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥१०१॥

प्रातःकालकी संध्याके समय सूर्यके उदयतक गायत्रीको जपता रहे और सायंकालकी संध्यामें अच्छे प्रकारसे तारे निकलनेतक बैठा रहकर गायत्रीका जप करता रहे ।

पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।

पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥१०२॥

प्रातःसन्ध्याके समय खड़ा होकर जप करता हुआ मनुष्य रात्रिका पाप दूर करता है और सायंकालके समय बैठकर जप करता हुआ दिनके पापोंका नाश करता है ।

न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।

स शूद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥१०३॥

जो मनुष्य न तो प्रातःसंध्योपासन करता है और न सायंसंध्योपासन करता है, वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विजकर्मोंसे बाहर निकालनेके योग्य है ।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।

सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥१०४॥

वनमें जाकर जलके पास, इन्द्रियोंको रोककर एकाग्र चित्तसे नित्यकी विधि कर चुकनेपर गायत्रीका जप करे ।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।

नाचुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥१०५॥

वेदके अङ्ग, नित्यके स्वाध्याय और होमके मन्त्रोंमें अनध्यायकी रुकावट नहीं है अर्थात् इन्हें अनध्यायमें भी करे ।

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।

ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥१०६॥

नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है; क्योंकि उसे मनुजीने ब्रह्मयज्ञ कहा है । वेदकी आहुतिका हवन और अनध्यायमें किया हुआ वषट्कार भी पुण्यरूप है ।

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।

तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥१०७॥

जो जितेन्द्रिय और शुद्ध होकर एक वर्षतक वेदको विधिपूर्वक पढ़ता है, उसको यह दूध, दही, घी और शहद नित्य देता है ।

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।

आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥१०८॥

जिसका जनेऊ हो गया है ऐसा द्विज वेद पढ़नेकी समाप्ति-तक अग्निमें ईंधन लगाना, भिक्षा माँगना, भूमिपर शयन करना और गुरुका हित—ये सब करे ।

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।

आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥१०९॥

आचार्यका पुत्र, सेवक, ज्ञानका दाता, धार्मिक, शुद्ध, बान्धव, समर्थ, धन देनेवाला, साधु और अपना जातिका—ये दस धर्मसे पढ़ानेयोग्य हैं ।

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।

जानन्नपि हि मेधावी जडबल्लोक आचरेत् ॥११०॥

गुरुको चाहिये कि बिना पूछे और अन्यायसे पूछनेवालेको उत्तर न दे अर्थात् न पढ़ावे, वह बुद्धिमान् जानता हुआ भी लोकमें गूंगेके समान आचरण करे ।

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।

तयोऽन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥१११॥

जो अधर्मसे कहता और अधर्मसे पूछता है, उन दोनोंमेंसे एक मर जाता है या आपसमें शत्रुताको प्राप्त होता है ।

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।

तत्र विद्या न वक्ष्य्या शुभं बीजमित्रोपरे ॥११२॥

जिस शिष्यमें धर्म और अर्थ न हों और शास्त्रोक्त सेवा भी न हो, उसे विद्या नहीं पढ़ानी चाहिये । उसे विद्यादान देना ऊसर भूमिमें अच्छे बीज बोनेके समान है अर्थात् निष्फल है ।

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।

आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥११३॥

वेदपाठीका विद्याके साथ ही अर्थात् किसीको बिना पढ़ाये ही

मरना भला है; परंतु घोर आपत्तिमें भी इसे ऊसरमें न बोवे अर्थात् कुपात्रको न पढ़ावे ।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेषधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ।

असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥११४॥

विद्याने किसी ब्राह्मणसे आकर कहा कि मैं तेरा खजाना हूँ, मेरी रक्षा कर, मुझे निन्दा करनेवालेको मत दे, इससे ही मैं वीर्यवती होऊँगी ।

यमेव तु शुचिं विद्याभियतं ब्रह्मचारिणम् ।

तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाग्रमादिने ॥११५॥

जिसे जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी और पवित्र जाने उसी (विद्यारूपी) खजानेकी रक्षा करनेवाले सावधान ब्राह्मणको मुझे सुना अर्थात् मुझे दे ।

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।

स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥११६॥

जो मनुष्य अभ्यासके लिये पढ़ते या किसीको पढ़ाते हुए गुरुकी बिना आज्ञाके वेदको प्राप्त करता है, वह वेदकी चोरीसे युक्त है और नरकको जाता है ।

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ।

आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥११७॥

जिससे लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करे, उसे (सभामें) पहले नमस्कार करे ।

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।

नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥११८॥

केवल गायत्रीका जाननेवाला ही जितेन्द्रिय ब्राह्मण श्रेष्ठ है, पर तीनों वेदका ज्ञाता भी जो सर्वभक्षी, सब वस्तु बेचनेवाला और अजितेन्द्रिय हो वह श्रेष्ठ नहीं है ।

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।

शय्यासनस्थश्चैवं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥११९॥

जब गुरुजन खाट या आसनपर बैठे हों उस समय कल्याण चाहनेवाला उनके समान आसनपर न बैठे और यदि स्वयं पहलेसे खाट या आसनपर बैठा हो तो उठकर उनको प्रणाम करे ।

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥१२०॥

वृद्धके आनेपर छोटे मनुष्यके प्राण ऊपरको चढ़ते हैं और उठकर प्रणाम करनेसे वह उनको फिर प्राप्त करता है अर्थात् ठीक करता है ।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥१२१॥

जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चार बढ़ते हैं ।

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।

असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥१२२॥

ब्राह्मण नमस्कारके पीछे वृद्धको प्रणाम करता हुआ, 'अमुक नामवाला मैं हूँ' इस भाँति अपना नाम बतावे ।

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।

तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥१२३॥

जो कोई नामके उच्चारणपूर्वक नमस्कारको नहीं जानते उनसे पण्डित 'मैं नमस्कार करता हूँ' यह कहे और उसी प्रकार सब स्त्रियोंसे कहे ।

भोः शब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादाने ।

नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥१२४॥

नमस्कारमें अपने नामके अन्तमें 'भो' शब्द कहे । 'भो' का अर्थ नामोंका स्वरूप है, यह ऋषियोंने कहा है ।

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादाने ।

अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥१२५॥

अभिवादन करनेपर 'हे सौम्य ! आयुष्मान् हो' यह ब्राह्मणसे कहना चाहिये । नमस्कार करनेवालेके नामके अन्तमें पूर्वके अक्षर अकारको प्लुत अर्थात् ह्रस्वसे तिगुने जोरसे कहना चाहिये ।

यो न वेत्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।

नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥१२६॥

जो ब्राह्मण नमस्कारके बदलेमें पूर्वोक्त रीतिसे प्रत्यभिवादन करना अर्थात् नामके अन्तिम अकारका प्लुत-स्वरसे उच्चारण करते हुए आशीर्वाद देना नहीं जानता है, पण्डितको चाहिये कि उसे नमस्कार न करे, क्योंकि वह शूद्रके समान है ।

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रवन्धुमनामयम् ।

वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥१२७॥

मिलनेपर ब्राह्मणसे कुशल, क्षत्रियसे अनामय, वैश्यसे क्षेम और शूद्रसे आरोग्यकी बात पूछनी चाहिये ।

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।

भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥१२८॥

जो छोटा भी दीक्षित हो तो उसे नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिये । धर्मज्ञ 'भो' या 'भवत्' शब्दपूर्वक उससे बोले ।

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बद्धा च योनिः ।

तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥१२९॥

जो स्त्री परायी हो और योनिसे सम्बन्ध न रखती हो (अर्थात् बहिन आदि न हो) उससे 'भवति', 'सुभगे', 'भगिनि' यों बोले ।

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरुन् ।

असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥१३०॥

मामा, चाचा, श्वशुर, ऋत्विज और गुरु—ये उम्रमें छोटे हों तो इनके सामने खड़ा होकर ऐसा कहे कि मैं अमुक हूँ ।

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूथ पितृष्वसा ।

सम्पूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥१३१॥

मौसी, मामी, सासु और बुआ—ये गुरुपत्नीके समान आदरके योग्य हैं; क्योंकि ये गुरुपत्नीके समान हैं ।

भ्रातृभार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ।

विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धयोषितः ॥१३२॥

भाईकी सवर्णा भार्याके चरणोंकी नित्यप्रति वन्दना करे । जातिकी तथा सम्बन्धियोंकी स्त्रियोंके चरणोंकी परदेशसे आकर वन्दना करे ।

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।

मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥१३३॥

बुआ, मौसी और अपनी बड़ी बहिनके साथ भी माताके समान वर्ताव करे, परंतु माता उनसे बहुत बड़ी है ।

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।

त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्त्रल्पेनापि स्वयोनिषु ॥१३४॥

पुरवालोंमें दस वर्षकी, कलाओंके जाननेवालोंमें पाँच वर्षकी और वेदपाठियोंमें तीन वर्षकी छुटाई-बड़ाईका विचार नहीं है, परंतु अपने कुलवालोंमें थोड़ी-सी छुटाई-बड़ाईका भी विचार होता है ।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।

पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥१३५॥

दस वर्षके ब्राह्मण और सौ वर्षके क्षत्रियको पिता-पुत्र-समान जानना चाहिये । उनमें ब्राह्मण पिता है (और क्षत्रिय पुत्र है) ।

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥१३६॥

धन, बन्धु, आयु, कर्म और पाँचवीं विद्या—ये मान्यताके स्थान हैं । इनमें जो-जो पीछे है, वही पहिलेसे बड़ा है अर्थात् धनसे बन्धु बड़ा है इत्यादि ।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।

यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥१३७॥

तीनों वर्णोंमें पाँचों गुणोंमेंसे बहुत-से गुण जिसमें हों वह सम्मान-के योग्य है और नब्बे वर्षसे अधिक आयुवाला शूद्र भी माननीय है ।

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।

स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥१३८॥

सवारोमें बैठे हुएको, नब्बेसे अधिक अवस्थावालेको, रोगीको, बोज्झवालेको, स्त्रीको, स्नातक (जिसका समावर्तन-संस्कार हो चुका हो उस) को, राजाको और दूलहको मार्ग देना चाहिये ।

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।

राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥१३९॥

उन इकट्ठे हुआमेंसे स्नातक और राजा माननेयोग्य हैं और राजा तथा स्नातक इन दोनोंमें स्नातक ही राजासे अधिक मान्य है ।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥१४०॥

जो ब्राह्मण शिष्यको यज्ञोपवीत देकर उसे यज्ञविद्या और उपनिषदयुक्त वेद पढ़ाता है, उसे आचार्य कहते हैं ।

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।

योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥१४१॥

जो (ब्राह्मण) वेदके एक भागको अथवा वेदाङ्गोंको जीविकाके लिये पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहाता है ।

निपेक्षादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।

संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१४२॥

जो (ब्राह्मण) किसीके गर्भाधान आदि कर्मोंको विधिपूर्वक करता है और अन्नसे पालन करता है, वह ब्राह्मण गुरु कहाता है ।

अरन्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।

यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥१४३॥

इस जगत्में जो अग्न्याधान, पाकयज्ञ और अग्निष्टोम आदि यज्ञोंको जिसकी ओरसे आचार्य होकर करता है, वह उसका ऋत्विक् कहाता है ।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणानुभौ ।

स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥१४४॥

जो दोनों कानोंको सत्य वेदसे भरता है अर्थात् वेद सुनाता है, उसे माता-पिता जानना चाहिये, उससे कभी द्रोह न करे ।

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।

सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥१४५॥

बड़प्पनमें दस उपाध्यायोंसे आचार्य, सौ आचार्योंसे पिता और हजार पिताओंसे माता अधिक है ।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।

ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१४६॥

जन्म देनेवाला और वेद पढ़ानेवाला इन दोनोंमें वेदका पढ़ाने-वाला पितासे बड़ा है; क्योंकि ब्राह्मणको ब्रह्मजन्म (उपनयन-संस्कार) से परलोकमें और यहाँ सनातन पद मिलता है ।

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।

सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥१४७॥

माता-पिता परस्पर कामके बश होकर इसे पैदा करते हैं । जो यह योनिमें उत्पन्न होता है, वह तो केवल इसका जन्ममात्र समझना चाहिये ।

आचार्यस्त्वस्य यां जतिं विधिवद्वेदपारगः ।

उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥१४८॥

परंतु वेदका जाननेवाला आचार्य इसको विधिपूर्वक जो गायत्रीसे जन्म देता है वही जन्म इसका सच्चा जन्म है और वही अजर-अमर है ।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।

तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तथा ॥१४९॥

जो गुरु जिसका थोड़ा या बहुत वेद पढ़ाकर उपकार करने-वाला हो, उस वेद पढ़ानेके कारण उसको भी संसारमें गुरु जाने ।

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।

बालोऽपि त्रिगो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१५०॥

ब्रह्मज्ञान या वेदका उपदेशरूप जन्म देनेवाला और अपने धर्मको सिखानेवाला ब्राह्मण बालक होनेपर भी धर्मकी दृष्टिसे उससे शिक्षा पानेवाले वृद्धका भी पिता है ।

अध्यापयामास पितृञ्जिशुराङ्गिरसः कविः ।

पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥१५१॥

अङ्गिराके विद्वान् बालक पुत्रने अपने चाचा आदिको पढ़ाया और उनको ज्ञान दे, शिष्य बनाकर 'हे पुत्रो' यह कहा ।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।

देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥१५२॥

वे चाचा आदि क्रोधमें आकर उस अर्थको देवताओंसे पूछने लगे और देवताओंने मिलकर उनसे कहा कि तुमसे बालकने ठीक कहा है ।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।

अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१५३॥

अज्ञ बालक होता है और मन्त्र देनेवाला पिता होता है इसलिये अज्ञको बालक और मन्त्रदाताको पिता ही कहते हैं ।

न हायनैर्न पलितैर्न विचेन न बन्धुभिः ।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१५४॥

न बहुत वर्षोंसे, न सफेद बालोंसे, न धनसे, न भाई-बन्धुओंसे कोई बड़ा होता है । ऋषियोंने यह धर्म किया है कि जो अङ्गोंसहित वेद पढ़ानेवाला है, वही हमलोगोंमें बड़ा है ।

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।

वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१५५॥

ब्राह्मणोंका ज्ञानसे, क्षत्रियोंका वीर्यसे, वैश्योंका धन-धान्यसे और शूद्रोंका आयुसे ही बड़प्पन होता है ।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।

यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१५६॥

सिरके बाल सफेद होनेसे कोई बड़ा नहीं होता । जो तरुण भी पढ़ा-लिखा हो तो देवता उसे वृद्ध कहते हैं ।

यथा क्वाष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।

यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम विभ्रति ॥१५७॥

काठका हाथी, चमड़ेका हरिण और बिना पढ़ा ब्राह्मण—ये तीनों केवल नाम धारण करते हैं ।

यथा पण्डोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।

यथा चाज्ञोऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥१५८॥

जैसे स्त्रियोंमें नपुंसक निष्फल है, जैसे एक गाय दूसरी गायमें निष्फल है, जैसे अज्ञमें दान निष्फल है, वैसे ही वेद न पढ़ा हुआ ब्राह्मण निष्फल होता है ।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।

वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१५९॥

धर्मकी इच्छा करनेवालोंको चाहिये कि प्राणियोंको अहिंसासे ही कल्याणके लिये शिक्षा दें और मीठी तथा कोमल वाणी बोलें ।

यस्य बाह्यमनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।

स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥१६०॥

जिसके वाणी और मन सदा शुद्ध और अच्छे प्रकारसे रक्षित हैं, वही सब वेदान्तके फलको पाता है ।

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।

ययास्योद्विजेत वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥१६१॥

दुखी होनेपर भी न तो दूसरेका मन दुखावे और न दूसरेसे द्रोह करनेमें मन लगावे । जिससे किसीको दुःख हो ऐसी लोक-विरुद्ध वाणी न बोले ।

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।

अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१६२॥

ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषके समान नित्य डरता रहे (क्योंकि गर्व हो जायगा) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे ।

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुद्ध्यते ।

सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥१६३॥

अपमान सह लेनेवाला मनुष्य सुखसे सोता है, सुखसे जागता है और इस संसारमें सुखसे विचरता है, परंतु अपमान करनेवालेका नाश हो जाता है ।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।

गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१६४॥

शुद्ध बुद्धिवाला द्विज गुरुके पास रहता हुआ इस प्रकारके अभ्याससे धीरे-धीरे वेदके ज्ञानके लिये तपका संचय करे ।

तपोविशेषैर्विविधैर्ब्रतैश्च विधिचोदितैः ।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥१६५॥

विधिपूर्वक बतलाये हुए तपविशेषोंसे और अनेक प्रकारके ब्रतोंसे ब्राह्मणको उपनिषद्सहित वेद पढ़ना चाहिये ।

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्यन्द्विजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१६६॥

ब्राह्मण तप करता हुआ सदा वेदका ही अभ्यास करता रहे; क्योंकि इस लोकमें वेदका अभ्यास ही ब्राह्मणका बड़ा भारी तप कहा गया है ।

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।

यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् १६७

जो ब्राह्मण माला धारण करके भी (अर्थात् ब्रह्मचर्यके नियमोंमें जो माला धारण करना निषेध है उसको पहनकर भी) नित्यप्रति शक्तिके अनुसार वेद पढ़ता है, वह चरणके नखोंतक अर्थात् सर्व-देहव्यापी बड़ा भारी तप करता है ।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६८॥

जो ब्राह्मण वेदको न पढ़कर दूसरे विषयोंमें परिश्रम करता है, वह जीते-जी कुटुम्बसहित शीघ्र शूद्र हो जाता है ।

(३७)

मातुरऽग्रेविजननं द्वितीयं मौञ्जिवन्धने ।

तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥१६९॥

वेदके आज्ञानुसार ब्राह्मणका जन्म प्रथम मातासे, दूसरा यज्ञोपवीतमें और तीसरा यज्ञकी दीक्षामें होता है ।

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जिवन्धनचिह्नितम् ।

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥१७०॥

इन तीनों जन्मोंमें यज्ञोपवीतके चिह्नवाला जो ब्रह्मजन्म है, उसमें इस (ब्राह्मण) की गायत्री माता और आचार्य पिता कहाता है ।

वेदग्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।

न ह्यस्मिन्पुज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिवन्धनात् ॥१७१॥

वेदका दान करनेसे आचार्यको पिता कहा है, क्योंकि इस (ब्राह्मण) को यज्ञोपवीत होनेसे पहिले कोई कर्म करनेका अधिकार नहीं है ।

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानियमनादते ।

शूद्रेण हि समस्ताविद्यावद्वेदे न जायते ॥१७२॥

स्वधा नियमके बिना अर्थात् श्राद्धमन्त्रोंके सिवा वेदमन्त्र (यज्ञोपवीतके पहिले) नहीं उच्चारण करे, क्योंकि जबतक वेदमें अधिकारी नहीं होता तबतक शूद्रके समान है ।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।

ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥१७३॥

यज्ञोपवीतके अनन्तर व्रतोंका उपदेश और वेदपाठ क्रमसे विधिपूर्वक कहे गये हैं ।

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।

यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥१७४॥

(३८)

ब्रह्मचारीको जो चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र यज्ञो-
पवीतमें कहा है, वही उसके व्रतोंमें भी होना चाहिये ।

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्धयर्थमात्मनः ॥१७५॥

ब्रह्मचारी गुरुके यहाँ रहता हुआ अपना तप बढ़ानेके लिये
इन्द्रियोंके समूहको अच्छी भाँति रोककर इन नियमोंका सेवन करे ।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।

देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१७६॥

ब्रह्मचारी नित्य स्नानसे शुद्ध होकर देव, ऋषि, पितृतर्पण और
देवताओंका पूजन तथा अग्निहोत्र करे ।

वर्जयेन्मधु मांसं च शल्यं माल्यं रसान्स्त्रियः ।

शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥

शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी
भाँति बनी हुई वस्तु और प्राणियोंकी हिंसा—इनको त्याग दे ।

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१७८॥

उबटन, आँखोंका आँजना, झूते, छत्र धारण करना, काम,
क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना—इनको भी त्याग दे ।

धूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।

स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७९॥

जुआ, झगड़ा, निन्दा तथा झूठ, स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन
करना और पराया तिरस्कार करना (ये भी ब्रह्मचारीको नहीं
करने चाहिये) ।

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्कचित् ।

कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१८०॥

सब जगह अकेला सोवे, वीर्यको कभी नहीं गिरावे, कामसे वीर्यको गिराता हुआ ब्रह्मचारी अपने व्रतका नाश करता है ।

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।

स्नात्वा कर्मचर्यित्वा त्रिः पुनर्मामित्युचं जपेत् ॥१८१॥

ब्रह्मचारी ब्राह्मण स्वप्नमें अनजाने वीर्यको गिराकर स्नान करे और सूर्यकी पूजाकर 'पुनर्मामित्विन्द्रियम्' इस ऋचाको तीन बार पढ़े ।

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।

आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥१८२॥

पानीका घड़ा, फूल, गोबर, मिट्टी और कुशा—इनको जितना कामके लिये चाहिये उतना ही लावे और नित्य भिक्षा माँगे ।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।

ब्रह्मचार्याहरेद् भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥१८३॥

जो वेद और यज्ञोंसे रहित नहीं हैं और अपने कर्मोंमें सावधान हैं, उनके घरोंसे ब्रह्मचारी पवित्र होकर नित्य भिक्षा लावे ।

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।

अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥१८४॥

गुरुके कुलमें भिक्षा न माँगे और जाति, कुल-बन्धुओंमें भी न माँगे । दूसरे घर न मिलनेपर तो पहिला-पहिला त्याग दे अर्थात् प्रथम कुल-बन्धुओंमें भिक्षा माँगे, वहाँ न मिले तो जातिमें और जो जातिमें न मिले तो गुरुके कुलमें भी माँगे ।

सर्वं वापि चरेद् ग्रामं पूर्वार्त्तानामसम्भवे ।

नियम्य प्रयतो वाचमभिश्चरन्तस्तु वर्जयेत् ॥१८५॥

पहिले कहे हुआंका अभाव हो तो वाणीको रोककर पवित्र हो सब गाँवमें (भिक्षाके लिये) फिरे, परंतु वहाँ पातकियोंको छोड़ दे ।

दूरादाहत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ।

सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥१८६॥

दूरसे समिधा लाकर खुलेमें रक्खे और आलस्यरहित होकर उनसे साँझ और सवेरे अग्निमें हवन करे ।

अकृत्वा भैक्षचरणभसमिध्य च पावकम् ।

अनातुरः सप्तरात्रभवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥१८७॥

नीरोग ब्रह्मचारी बिना भिक्षा माँगे और अग्निमें बिना समिधाका हवन किये सात रात्रितक रहे तो 'अवकीर्ण' नाम व्रत करे ।

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकाच्चादी भवेद्ब्रती ।

भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥१८८॥

ब्रह्मचारी नित्य भिक्षा माँगे, एक मनुष्यका अन्न खानेवाला न बने । ब्रह्मचारीको भिक्षासे आजीविका करना उपवासके समान कहा है ।

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्विव्रत् ।

काममभ्यर्थिनोऽश्नीयाद्ब्रतमस्य न लुप्यते ॥१८९॥

ब्रह्मचारी देवताओंके कर्ममें व्रतके समान और पितर-कर्ममें ऋषिके समान, न्याता हुआ इच्छापूर्वक भोजन करे, इससे इसके व्रतका लोप नहीं होता ।

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।

राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥१९०॥

पण्डितोंने यह कर्म (अर्थात् ब्राह्म-भोजन) ब्राह्मणको ही कहा है, क्षत्रिय-वैश्योंके लिये इस प्रकारके कर्मका विधान नहीं है ।

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।

कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥१९१॥

गुरुसे प्रेरणा किया जाय या न किया जाय, ब्रह्मचारी पढ़नेमें और गुरुके हितमें नित्य यत्न करे ।

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।

नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१९२॥

शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय और मन—इनको रोककर हाथ जोड़े, गुरुके मुखको देखता हुआ खड़ा रहे ।

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।

आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥१९३॥

नित्य ओढ़नेके वस्त्रसे हाथको बाहर निकाले रहे, सुन्दर आचरण रखे, वस्त्रसे देहको ढके रहे और जब गुरु 'बैठ जाओ' कहें तब उनके सामने बैठे ।

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।

उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य परमं चैव संविशेत् ॥१९४॥

गुरुके सामने सदा सामान्य अन्न, वस्त्र और वेषसे रहे और गुरुके पहिले उठे और पीछे सोवे ।

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ।

नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥१९५॥

गुरुकी आज्ञाका स्वीकार और उनसे वार्तालाप—ये सोता, बैठा, भोजन करता, खड़ा और मुँह फेरे हुए नहीं करे ।

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।

प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्वावंस्तु धावतः ॥१९६॥

बैठे हुए गुरुको खड़े होकर, खड़े हुएको सामने जाकर, आते हुएके कुछ पद आगे जाकर, दौड़ते हुएके पीछे दौड़कर उनसे बातचीत करे ।

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।

प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१९७॥

गुरु मुँह फेरे हों तो उनके सामने जाकर, दूर हों तो पास जाकर, सोते हों तो प्रणाम करके और खड़े हों तो आज्ञा होनेपर वार्तालाप करे ।

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।

गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥१९८॥

गुरुके समीप इसका पलंग और आसन सदा नीचा रहे और गुरुकी आँखोंके सामने मनमाने आसनसे न बैठे ।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।

न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥१९९॥

गुरुके पीठ-पीछे भी उनका खाली नाम न ले और उनकी गति, बोल-चाल और चेष्टाकी कदापि नकल न करे ।

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।

कणौ तत्र पिधातुव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥२००॥

जहाँ गुरुकी बुराई या निन्दा होती हो, वहाँ कानोंको बंद कर लेना चाहिये या वहाँसे और जगह चला जाना चाहिये ।

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।

परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति भ्रत्सरी ॥२०१॥

शिष्य गुरुकी बुराईसे गधा, निन्दासे कुत्ता, उनके घन भोगनेसे कृमि और उनके साथ डाह करनेसे कीट होता है ।

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।

यानासनस्थश्चैवैनमवरुद्धाभिवादयेत् ॥२०२॥

(४३)

शिष्य दूरसे, क्रुद्ध होकर या स्त्रीके पास बैठा हुआ गुरुका पूजन न करे और जो सवारी या विछौनेपर बैठा हो तो उतरकर गुरुको प्रणाम करे ।

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।

असंश्रये चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥२०३॥

जहाँ गुरुके बैठनेके प्रदेशसे शिष्यके बैठनेके प्रदेशको वायु चलती हो और शिष्यके बैठनेके प्रदेशसे गुरुके बैठनेके प्रदेशको चलती हो, वहाँ गुरुके साथ न बैठे और जहाँ गुरु सुनने न पावें, वहाँ कोई बात न कहे ।

गोऽश्वोऽष्टयानप्रासादग्रस्तरेषु कठेषु च ।

आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥

बैल, घोड़ा, ऊँट या अन्य सवारीपर तथा महलकी छतपर, चटाइयोंपर और शिला, तखत तथा नौकापर गुरुके साथ बैठ जाय ।

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तमाचरेत् ।

न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरुनभिवादयेत् ॥२०५॥

गुरुके गुरु यदि पास हों तो उनके साथ गुरुके समान ही बर्ताव करे और गुरुसे आज्ञा लिये बिना अपने बड़ोंको अर्थात् माता-पिता आदिको प्रणाम न करे ।

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।

प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपादिशत्स्वपि ॥२०६॥

विद्या पढ़ानेवालोंसे सदा यही बर्ताव करना चाहिये और अपने वंशवालोंसे, अधर्मका निषेध करनेवालोंसे और धर्मका उपदेश करनेवालोंसे भी यही बर्ताव करना चाहिये ।

श्रेयस्सु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।

गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्ववन्धुषु ॥२०७॥

बड़े लोगोंमें, श्रेष्ठ गुरुपुत्रोंमें और गुरुके वन्धुओंमें नित्य गुरुके समान ही वर्ताव करे ।

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।

अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥२०८॥

गुरुका पुत्र छोटा हो वा समान अवस्थाका हो अथवा यज्ञ-विद्यादिमें शिष्य हो, यदि वह वेदके पढ़ानेमें समर्थ हो तो उसका गुरुके समान सम्मान करना चाहिये ।

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।

न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥२०९॥

गुरुपुत्रके अङ्गोंमें उबटन लगाना, उसे स्नान कराना, उसका झूठा भोजन और उसके चरणोंको धोना—यह सब न करे ।

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ।

असवर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥२१०॥

सवर्ण गुरुपत्नियाँ गुरुके समान पूज्य हैं और अन्य जातिकी हों तो अभ्युत्थान और प्रणामसे सत्कारके योग्य होती हैं ।

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।

गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च। प्रसाधनम् ॥२११॥

गुरुपत्नीके तैलमर्दन, स्नान, शरीरके अङ्गोंपर उबटन और बालोंपर सुगन्ध लगाना—ये काम नहीं करने चाहिये ।

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।

पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥२१२॥

इस जगत्में पूरे बीस वर्षके तथा गुण-दोष जाननेवाले शिष्यको तरुण गुरुपत्नीके चरणोंमें गिरकर प्रणाम नहीं करना चाहिये ।

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।

अतोऽर्थाच्च प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥२१३॥

इस संसारमें पुरुषोंको दूषण लगाना स्त्रियोंका स्वभाव होता है, इसलिये पण्डितजन स्त्रियोंमें असावधानीसे नहीं रहते हैं ।

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।

प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥२१४॥

क्योंकि संसारमें स्त्रियाँ भूखको अथवा काम-क्रोधके वशीभूत पण्डितको भी बुरे मार्गमें ले जानेके लिये समर्थ होती हैं ।

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न निवित्तासनो भवेत् ।

बलवानिन्द्रियग्राभो विद्वांसमपि कर्षति ॥२१५॥

मनुष्यको चाहिये कि माता, बहिन या लड़कीके साथ एकान्तमें न बैठे; क्योंकि बलवान् इन्द्रियोंका समूह पण्डितको भी खींच लेता है ।

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।

विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥२१६॥

तरुण शिष्यको चाहिये कि तरुण गुरुपत्नियोंको 'अमुक मैं हूँ' यह कहता हुआ पृथ्वीपर अच्छी भाँति विधिसहित प्रणाम करे ।

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।

गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥२१७॥

शिष्य सज्जनोंके धर्मको याद करता हुआ परदेशसे आकर गुरुपत्नियोंका चरणस्पर्श करे और उन्हें नित्य प्रणाम करे ।

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।

तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥२१८॥

जिस प्रकार मनुष्य फावड़ेसे (पृथ्वीको) खोदता हुआ जलको पाता है, उसी भाँति सेवा करनेवाला शिष्य गुरुके पासकी विद्या पाता है ।

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।

नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्कचित् ॥२१९॥

ब्रह्मचारी मूँड़ मुड़ाये अथवा जटा रखाये हो अथवा शिखाकी ही जटा बनाये हो, पर इसके गाँवमें रहते न तो कभी सूर्य छिपे और न उदय हो अर्थात् सूर्योदयसे पहले गाँवमें न जाय और सूर्य अस्त होनेके बाद गाँवमें न रहे ।

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।

निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥२२०॥

जो इच्छापूर्वक सोते हुए उसको सूर्य उदय हो जाय या भूलसे अस्त हो जाय तो गायत्रीको जपता हुआ दिनभर व्रत करे ।

सूर्येण ह्यभिनिम्लुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।

प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥२२१॥

जो सोते हुएको सूर्य अस्त हो जाय और उदय हो जाय तो प्रायश्चित्तके न करनेसे उसे बड़ा पाप होता है ।

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः ।

शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥२२२॥

पवित्र और सावधान ब्रह्मचारी आचमन करके शुद्ध स्थानमें गायत्रीको विधिपूर्वक जपता हुआ दोनों संध्याओंकी उपासना करे ।

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत् ।

तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥२२३॥

स्त्री अथवा शूद्र जो कुछ अच्छा काम करें, उस सबको अथवा जिसमें इसका मन लगे उसे सावधान होकर करे ।

धर्मार्थाबुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।

अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥२२४॥

इस संसारमें कितने ही (आचार्य) धर्म और अर्थको कल्याणरूप कहते हैं, कितने ही काम और अर्थको और कितने ही धर्मको अथवा अर्थहोको कल्याणरूप कहते हैं; परंतु धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों कल्याणरूप हैं यह सिद्धान्त है ।

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।

नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥२२५॥

आचार्य, पिता, माता और बड़ा भाई इनका दुखी मनुष्य भी अपमान न करे और विशेषकर ब्राह्मण तो कभी अपमान न करे ।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।

माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥२२६॥

आचार्य परमात्माकी मूर्ति है, पिता ब्रह्माकी मूर्ति, माता पृथ्वीकी मूर्ति और भाई अपनी ही मूर्ति है ।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरिति ॥२२७॥

मनुष्यके उत्पत्तिसमयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी नहीं चुकाया जा सकता ।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।

तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥२२८॥

इसलिये नित्य उन दोनोंका और सदा आचार्यका प्रिय करे ।
उन्हीं तीनोंके तुष्ट होनेपर सब तप समाप्त हो जाता है ।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।

न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥२२९॥

इन तीनोंकी सेवा ही बड़ा भारी तप कहा गया है । इन तीनों-
की आज्ञा बिना शिष्य अन्य धर्मको न करे ।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।

त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥

वे ही तीनों लोक, वे ही तीनों आश्रम, वे ही तीनों वेद और
वे ही तीनों अग्नि कहे गये हैं ।

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।

गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥२३१॥

पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि, गुरु आहवनीय अग्नि
है, ऐसा कहा है और वह अग्निसमूह अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

त्रिष्वग्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही ।

दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्विव मोदते ॥२३२॥

गृहस्थी इन तीनोंमें सावधान रहनेसे तीनों लोकोंको जीतता
है और अपने शरीरसे तेजस्वी होता हुआ स्वर्गमें देवताके समान
प्रसन्न होता है ।

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।

गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२३३॥

(४९)

माताकी भक्तिसे इस लोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यलोकको और गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोकको पाता है ।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।

अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥२३४॥

जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसने सब धर्मोंका आदर किया और जिसने इनका अनादर किया, उसके सब काम निष्फल हैं ।

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।

तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥२३५॥

जबतक ये तीनों जीयें तबतक दूसरा धर्म न करे, उन्हींकी प्रीति और हित चाहता हुआ नित्य उनकी ही सेवा करे ।

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।

तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥२३६॥

उनके कहनेसे जो-जो परलोकके लिये मन, वाणी और कर्मसे आचरण करे वह उन्हींके अर्थ अर्पण कर दे ।

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।

एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥२३७॥

क्योंकि इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब कर्म सफल होता है, यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं ।

श्रद्धधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।

अन्त्यादपि परं धर्मं स्वीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२३८॥

श्रद्धापूर्वक नीचसे भी अच्छी विद्याको, चाण्डालसे भी परम धर्मको और नीच कुलसे भी स्वीरत्नको ग्रहण करे ।

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।

अमित्रादपि सद्बृत्तमभ्यादपि काञ्चनम् ॥२३९॥

विषसे भी अमृतको, बालकसे भी सुन्दर वचनको, वैरीसे भी सुन्दर आचरणको और अशुद्ध जगहसे भी सुवर्णको ले लेना चाहिये ।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।

विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥२४०॥

स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, पवित्रता, सुन्दर वचन और अनेक प्रकारकी कारीगरी इनको सबसे ले लेना चाहिये ।

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।

अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥२४१॥

आपत्कालमें क्षत्रिय आदिसे भी पढ़ना कहा है, परंतु उस गुरुका अनुगमन और सेवा जबतक पढ़ता रहे तबतक ही करे ।

नाब्रह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।

ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥२४२॥

उत्तम गति चाहनेवाले शिष्यको चाहिये कि जो ब्राह्मण न हो और जो अङ्गसहित वेद न जानता हो उसके पास ब्रह्मचर्यके लिये न बसे ।

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।

युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥२४३॥

जो ब्रह्मचारी गुरुके कुलमें अपने जीवनतक वास करना चाहे तो शरीरके अन्ततक सावधानीसे गुरुकी सेवा करे ।

आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।

स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सन्न शाश्वतम् ॥२४४॥

जो ब्रह्मचारी शरीरकी समाप्ति तक गुरुकी सेवा करता है वह ब्रह्मके शाश्वत स्थानको शीघ्र ही जाता है ।

(५१)

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।

स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२४५॥

धर्मका ज्ञाता शिष्य पहिले गुरुको कुछ दक्षिणा न दे, परंतु जब गुरुके आज्ञानुसार व्रत समाप्त करके स्नान करे तो गुरुके लिये यथाशक्ति भेंट लावे ।

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।

धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥२४६॥

भूमि, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, अन्न, शाक और कपड़े—ये गुरुके लिये प्रीतिसे लावे ।

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।

गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥२४७॥

आचार्यके मरनेपर गुणवान् गुरुपुत्रमें, गुरुपत्नीमें अथवा गुरुके सपिण्ड लोगोंमें गुरुके समान बर्ताव करे ।

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।

प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥२४८॥

इनके विद्यमान नहीं होनेपर आचार्यकी अग्निके पास ही स्नान, आसन, विहार और अग्निकी सेवा करता हुआ अपनी देहको साधे ।

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।

स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥२४९॥

जो ब्राह्मण विचलित न होकर इस प्रकार ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह उत्तम स्थानको जाता है और इस संसारमें फिर नहीं आता ।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

संस्कृतकी कुछ मूल तथा सानुवाद पुस्तकें

रु. पै.

श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी-पृष्ठ ६८४, चित्र ४, सजिल्द	 ४.००
श्रीमद्भगवद्गीता श्रीधरीटीका-सानुवाद, रु० २.५०, स० ३.००	
श्रीमद्भगवद्गीता [वड़ी]-पृष्ठ ५७२, चित्र ४, सजिल्द	 १.२५
ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२	०.२५
श्रीमद्भगवतमहापुराण-दो खण्डोंमें, सटीक, पृष्ठ २०३२, चित्र	
तिरंगे २५, सुनहरा १, सजिल्द	 २०.००
श्रीमद्भगवतमहापुराण-मूल, मोटा टाइप, पृष्ठ ६९२,	
चित्र १, सजिल्द, मूल्य	 ७.५०
श्रीमद्भगवतमहापुराण-मूल-गुटका, सजिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र	४.००
भागवत एकादश स्कन्ध-सटीक, सचित्र, पृष्ठ ४४८	 १.२५
अध्यात्मरामायण-सानुवाद, पृष्ठ ४००, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द	 ४.००
वेदान्तदर्शन-हिन्दी-व्याख्या सहित, पृष्ठ ४१६, सचित्र, सजिल्द	 २.५०
पातञ्जलयोगप्रदीप	 ७.५०
पातञ्जलयोगदर्शन-सटीक, पृष्ठ १९२, २ चित्र	 ०.९०
श्रीदुर्गासप्तशती-सानुवाद, पृष्ठ २४०, सचित्र	 १.००
श्रीदुर्गासप्तशती-मूल, पृष्ठ १५२, सचित्र	 ०.६५
विष्णुसहस्रनाम शाङ्करभाष्य-पृष्ठ २८०, सचित्र	 १.१०
लघुसिद्धान्तकौमुदी-(संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये) पृष्ठ ३६८	०.९०
सूक्ति-सुधाकर-सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६	०.७५
स्तोत्ररत्नावली-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३२०	०.६५
विदुरनीति-सानुवाद, पृष्ठ १६८	०.७०
प्रेम-दर्शन-नारद भक्ति-सूत्रोंकी विस्तृत टीका, सचित्र, पृष्ठ १९२	०.३५
विवेक-चूडामणि-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८४, मूल्य	 ०.४०
अपरोक्षानुभूति-शङ्करस्वामिकृत, सानुवाद, पृष्ठ ४०, सचित्र	 ०.२०
गजेन्द्रमोक्ष-पदच्छेद-अन्वय-भावार्थसहित, पृष्ठ ४८	 ०.१२
पता-गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)	



आदर्श चरितमालाकी

भक्तराज हनुमान्—यह आदर्श चरितमाला

इसमें भक्तप्रवर्ग श्रीहनुमान्जीके पुष्प

वाल्मीकीय रामायण, अथवात्सरामायण, रामच

और ब्रह्माण्डपुराण आदि ग्रन्थोंके आधार

पृष्ठ ७२, चित्र रंगीन १, छादे ४, मूल्य

सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र—यह इस मालाका द्विती

कल्पित राजा हरिश्चन्द्रके जीवनकी स

षट्नाई अनेक इतिहास-पुराणोंके आधारपर लिखी

पृष्ठ ५२, चित्र रंगीन ४, मूल्य

प्रेमी भक्त उद्धव—यह इस मालाका तृतीय पुष्प है। इसमें मुख्यतः

श्रीमद्भगवत् तथा गार्ग्यसंहिताके आधारपर परम प्रेमी महाभारत

उद्धवजीका चरित्र वर्णन किया गया है। पुस्तकके अन्तमें

उद्धवके प्रति भगवान् श्रीकृष्णके उपदेश संकलित हैं। पृष्ठ ६४,

चित्र रंगीन १, मूल्य

महात्मा विदुर—यह इस मालाका चौथा पुष्प है। इसमें महाभारत

तथा श्रीमद्भगवत्के आधारपर महात्मा विदुरका चरित्र बहुत

सरल, सुन्दर एवं ओजस्विनी भाषामें वर्णन किया गया है।

साथ ही विदुरजीकी धर्मनीतिका बहुत ही उत्तम संग्रह है।

पृष्ठ ५६, सचित्र, मूल्य

भक्तराज ध्रुव—महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण तथा अन्य

पुराणोंके आधारपर भक्तराज ध्रुवका चरित्र इस मालाके

पञ्चम पुष्पके सममें बहुत ही सीधी-सादी परंतु प्रभावशाली

भाषामें गुणित किया गया है। पृष्ठ ४८, चित्र रंगीन २,

मूल्य

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)